

समन्वय की साधना और जैन संस्कृति

डॉ. रामजी सिंह

समन्वय भारतीय संस्कृति की सर्वोच्च साधना रही है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भारत को मानव-संस्कृतियों का सागर कहा है और इस प्रणय-तीर्थ में माता के मंगलघट को भर देने के लिये सबों का आह्वान किया है। हाँ साधना जितनी ही श्रेष्ठ होती है, उसकी यंत्रणा उतनी ही दुस्सह होती है। इसलिए भारत को इस समन्वय-साधना के हेतु समय-समय पर अपार यंत्रणा सहनी पड़ी है। लगता है, समन्वयरूपी अमृत प्राप्त करने के लिए गरलपान करना ही होता है।

शायद, समन्वय हमारी संस्कृति की अनिवार्यता है। हमारा रूप-रंग, भाषा, वेश-भूषा, रस्म-रिवाज, धार्मिक आस्था और विश्वास आदि कभी भी एक जिन्सी नहीं रहा। आर्यों एवं अनार्यों के बीच संघर्ष चलने के बाद ही हमारी जीवन-पद्धति ने निर्णय किया होगा कि 'समन्वय' ही मानव-जीवन का आदर्श हो सकता है। फिर तो आर्यों एवं द्रविड़ों के संयोग से एक भव्य भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ। इसी तरह पौर और जानपद संस्कृतियों के साथ उत्कृष्ट आरण्यक-संस्कृति का भी हम पर प्रभाव पड़ा। अरण्य के साथ सम्बन्ध होने से वृक्ष, वनस्पति आदि के परिचय के साथ वनस्पति का विज्ञान बढ़ा। वनस्पति का गुण-धर्म मालूम होने पर आहार-शास्त्र और आरोग्य-शास्त्र में प्राकृतिक वस्तुओं का उपयोग बढ़ा। चन्द्र किरणों का वनस्पति पर होने वाले प्रभावों का सूक्ष्म अध्ययन और पशु तथा मनुष्यों के बीच मूलभूत एकता की ओर ध्यान भी गया और अनुभव हुआ कि सर्वत्र एक ही चैतन्य है। शायद, यही पर हमें अहिंसा का साक्षात्कार हुआ। मांसाहार का परित्याग हमारा पशु-जगत् और मानव-जगत् के बीच समन्वय की दिशा में एक प्रभावकारी कदम है। इसका अर्थ यह नहीं कि समाज में एक वर्ग के द्वारा दूसरे का शोषण बन्द हो गया या ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच युद्ध हुए ही नहीं या यज्ञ के नाम पर पशुओं की बलि नहीं चली। लेकिन लोगों का सामान्य स्वभाव प्रेम, सहयोग, क्षमा और सहिष्णुता का ही रहा। साम, दाम, भेद और उपेक्षा आदि आजमाने के बाद ही दंड का प्रयोग होता था। आक्रमणकारी शक-शीथियन, गुर्जर, प्रतिहार आदि का भी हमने अपनी संस्कृति में समावेश कर लिया। हमने किसी देश के भू-भाग को

परिसंवाद ४

जीतने के लिए कभी आक्रमण नहीं किया। आक्रमणकारियों को भी बार-बार क्षमा किया। हमारे यहाँ जितने युद्ध हुए वे प्रायः अन्दर-अन्दर के हुए जिसमें राजाओं के ईर्ष्या-द्वेष, लोभ और महत्वाकांक्षा के बीच संघर्ष था। समाज का बहुत बड़ा भाग तो अछूता ही रह जाता था। कभी-कभी दो बड़ी-बड़ी सेनाओं को युद्धाग्नि में झोंकने के बदले दोनों पक्षों के दो प्रधान वीरों के बीच ही द्वन्द्व-युद्ध से विजय-पराजय का निपटारा करा लिया जाता था। भीम-जरासंध के बीच इसी प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध से दो जातियों का विग्रह बच गया। संक्षेप में, भारतीय संस्कृति ने विग्रह टालकर समन्वय की साधना के अनेक प्रयत्न किये हैं। देव-निर्माण की प्रयोगशाला में भी बहुदेववाद के अन्तर्गत असंख्य देवों का जल-थल-नभ के अनुसार वर्गीकरण, 'त्रिमूर्ति' एवं 'विश्वेदेवा' की कल्पना और फिर एकदेव 'प्रजापति' एवं 'विश्वकर्मा' का सृजन और अंत में 'एकं सद्भिप्रा बहुधा वदन्ति' कहकर अद्वैत तक पहुँचना ही समन्वय-साधना की पराकाष्ठा है। आद्य शंकराचार्य ने पंचायतन-पूजा में सभी देवी-देवताओं की पूजा का अन्तर्भाव कर तथा पीछे मध्ययुगीन संतों ने सर्व-धर्म सद्भाव की भावना को उपस्थित कर वस्तुतः 'आत्मौपम्य भाव' या 'विश्वात्मैक्य भाव' प्रकट किया है। और तो और भारतीय संस्कृति में, इसी प्रकार वेद और ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता को स्पष्ट अस्वीकार करने वाले भगवान् बुद्ध को तथा जैनधर्म के जन्मदाता भगवान् ऋषभदेव को अवतार (श्रीमद् भागवत, ५।२-६ अष्टम अवतार) के रूप में स्वीकार करना समन्वय-साधना की दिशा में ही एक उदात्त प्रयास है।

भारतीय संस्कृति को भगवान् ऋषभदेव ने तो मानों समन्वय का समग्र-दर्शन ही प्रदान कर दिया। समस्त आत्माओं को स्वतंत्र, परिपूर्ण और अखंड मौलिक द्रव्य मानकर अपनी तरह समस्त जगत के प्राणियों को जीवित रहने का समान अधिकार स्वीकार करना ही अहिंसा के सर्वांगीय स्वरूप की शिक्षा है। विचार के क्षेत्र में अहिंसा को मानसरूप में प्रतिष्ठित करने के लिए अनेकान्त आया जो वस्तु-विचार के क्षेत्र में दृष्टि की एकांगिता और संकीर्णता से उत्पन्न होने वाले मतभेदों को हटाकर 'मानस-समन्वय' के रूप में उत्पन्न होता है जो वीतरागचित्त की उद्भावना के लिए अनुकूलता पैदा करता है। इसी तरह वचन की निर्दोष तथा अनेकान्त को अभिव्यक्त करने वाली भाषा-शैली के रूप में स्याद्वाद भी 'वाचनिक-समन्वय' की साधना की ही अभियंत्रणा है जहाँ स्ववाच्य को प्रधानता देते हुए अन्य अंशों की उपेक्षा नहीं होती। इसीलिए तो धर्मतीर्थकरों की स्याद्वादी के रूप में स्तुति की जाती है—

परिसंवाद-४

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः ।

ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

—लघीयस्त्रय, श्लोक १

अहिंसा की साधना भारतीय-संस्कृति के लिए नयी नहीं है लेकिन जैन-संस्कृति ने अहिंसा को निःश्रेयस के साधनों में सबसे प्रमुख मानकर इसका महत्त्व बढ़ा दिया । मीमांसा आदि वैदिक दर्शनों में हिंसा प्रधान यज्ञ यागादि कर्म को साधन मानकर अहिंसा की उपेक्षा कर दी गयी थी । श्रमण-संस्कृति साध्य के साथ साधन की शुचिता पर भी जोर देती थी इसीलिए ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों के परस्पर शाश्वत विरोध पर पतंजलि को अपने महाभाष्य में 'अहि-नकुल' और 'गो-व्याघ्र' की उपमायें देनी पड़ी । खैर, यह जैन-संस्कृति की अहिंसा-भावना का ही प्रभाव है कि ब्राह्मण परम्परा में यज्ञीय हिंसा का समर्थन केवल परम्परागत शास्त्र-चर्चा का विषय मात्र रह गया है लेकिन लोक-व्यवहार में यज्ञीय हिंसा प्रायः लुप्त होकर 'सर्वभूतहिते रताः' के मूल्य पर अवस्थित रही । ऋषभदेव के समान ही कपिल और पतंजलि द्वारा जिस 'आत्मौपम्यभावना' तथा तन्मूलक अहिंसा-धर्म की प्रतिष्ठा का पोषण हुआ है उसमें अद्वितीय समानता है । ब्राह्मण-संस्कृति ने तप द्वारा और श्रमण-संस्कृति ने चित्त-शुद्धि द्वारा साम्यसिद्धि मूलक अहिंसा की प्रतिष्ठा की है । इसीलिए ब्राह्मण-पुराणों में ऋषभदेव का उग्र तपस्वी के रूप में तथा जैन वाङ्मय में कपिल का अत्यधिक उल्लेख है । इस प्रकार साम्य सिद्धिमूलक अहिंसा को समन्वय-धर्म के रूप में दोनों ने स्वीकार किया है । जिस शाखा ने साम्य-सिद्धि के लिए अपरिग्रह पर अधिक जोर दिया और परिवार तक के बंधन को अहिंसा या पूर्ण साम्य की सिद्धि के लिए व्यवधान माना, वही निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई । इन्हीं के प्रवर्तक नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ हुए ।

असल में पूर्ण प्राणभूत साम्य-दृष्टि ही अहिंसा का आधार है । जैनश्रुत रूप में द्वादशांगी या चतुर्दशपूर्व में सामादय (सामयिक) का स्थान प्रथम है जो आचारांग-सूत्र कहलाता है । इसमें साम्य-सिद्धि के लिए 'सम' 'शम' और 'श्रम' पर बल दिया जाता है । जिस प्रकार संध्या-वन्दन ब्राह्मण-परम्परा का आवश्यक अंग है उसी प्रकार जैन-परम्परा में गृहस्थ एवं त्यागी सबों के लिए छः आवश्यक कर्म हैं जिनमें मुख्य 'सामादय' है—'करेमि भंते सामादय' । सातवीं सदी में सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् जिन-भद्रगणि ने सामादय की प्रतिष्ठा के लिए विशेषावश्यकभाष्य नामक ग्रंथ लिखकर धर्म के अंगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र्य तीनों को ही सामादय बताया । ब्राह्मण-

परिसंवाद-४

परम्परा में भी साम्यदृष्टि के प्रतीक को 'ब्रह्म' कहकर साम्यमूलक आचार-विचार को ब्रह्मचर्य कहा है। बौद्ध परम्परा में मैत्री, मुदिता, करुणादि भावनाओं को ही ब्रह्म-विहार माना गया है। धम्मपद (ब्राह्मणवग्ग—२६) एवं महाभारत के शांतिपर्व की तरह जैन (उत्तराध्ययन २५) में समत्व करने वाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकर श्रमण और ब्राह्मण के बीच समन्वय करने की चेष्टा की गयी है।

यह साम्य-दृष्टि ही जैन-संस्कृति का हृदय है जो विचार, वाणी और व्यवहार में अभिव्यक्त करने की कोशिश की गयी है। व्यवहार-साम्य—जैन संस्कृति का सब आचार-व्यवहार साम्य दृष्टि-मूलक अहिंसा के पास ही निर्मित हुआ है। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग ही नहीं वनस्पति और पार्थिव, जलीय आदि सूक्ष्माति-सूक्ष्म प्राणियों तक की हिंसा से आत्मौपम्य या प्राणभूत अहिंसा भावना को चोट पहुँचती है। इसी की व्याख्या के लिए जैन परम्परा में चार विद्यायें फलित हुई हैं, जिनके आधार पर ही ज्ञान प्राप्त कर हम आचार की अहिंसा साध सकते हैं—आत्म-मीमांसा, कर्म-मीमांसा, चारित्र-मीमांसा एवं लोक-मीमांसा।

आत्म-मीमांसा—आत्मा का विचार जैनदर्शन में उपनिषद्-वेदान्त के ब्रह्म की तरह ही सर्वग्राही है। आत्मा कृमि-पिपीलिका-भ्रमर मनुष्य सबों में समान है। जीव-समानता के इस सैद्धान्तिक तात्त्विक विवेचन को जीवन-व्यवहार में यथासंभव उतारना ही अहिंसा है। जब सृष्टि के कण-कण में आत्मा व्याप्त है तो फिर हिंसा का स्थान ही कहाँ है? यदि समानता की अनुभूति ही नहीं हो तो फिर आत्म-साम्य का सिद्धान्त ही झूठा है। आचारांग में कहा ही गया है कि “जैसे तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो वैसा ही पर दुःख का अनुभव करो”।

उपनिषद् और वेदान्त भी अहिंसा का समर्थन अद्वैत के आधार पर करता है क्योंकि सारे जीव ब्रह्म के रूप हैं। ‘सर्वं खलु इदं ब्रह्म।’ ‘ईशावास्यमिदं सर्वम्।’ ‘तत्त्वमसि’ या ‘ब्रह्मास्मि’ तो अद्वैत की पराकाष्ठा है। लेकिन विशिष्टाद्वैत में भी जीव ईश्वर का ही अंश है। अद्वैत-परम्परा जीव-भेद को मिथ्या मानकर अहिंसा का उद्बोधन करती है। जैन परम्परा में जीवात्मा का वास्तविक भेद स्वीकार कर भी तात्त्विक रूप से सबों को एक मानकर अहिंसा-धर्म को प्रतिष्ठित किया जाता है।

कर्म-मीमांसा—प्रश्न है जब तात्त्विक रूप से सब जीव समान हैं तो फिर उनमें विषमता क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए ही कर्मवाद लाया गया है। जैसा कर्म होगा, वैसा फल मिलेगा। वर्तमान का निर्माण अतीत के आधार पर

परिसंवाद - ४

तथा अनागत का निर्धारण वर्तमान के आधार पर होगा। यही कार्य-कारणवाद भी है। यही पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म का आधार है। अपने एवं पराये की वास्तविक प्रतीति न होना ही जैन दृष्टि से दर्शन-मोह है जिसे सांख्य-बौद्ध-अद्वैत परम्परा में अविद्या या अज्ञान कहा गया है। यद्यपि राग-द्वेष ही हिंसा के प्रेरक हैं लेकिन सबका कारण यही अज्ञान या अविद्या या दर्शन-मोह है। आत्मा जब अपने स्वरूप को समझ नहीं पाता है तो वह राग-द्वेष के कारण हिंसा करता है।

चारित्र्य मीमांसा—चारित्र्य का उद्देश्य आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है, पर व्यक्तिरूप से यह सम्बन्ध सादि है। आत्मा के साथ कर्म के प्रथम सम्बन्ध का प्रश्न व्यर्थ है। जैन परम्परा की तरह ही इसे न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-वेदान्त-बौद्ध सबों ने मान लिया है। ब्रह्म के साथ माया, आत्मा के साथ अविद्या का सम्बन्ध अनादि है। सर्वथा कर्म मुक्ति से ही आत्मा का पूर्ण शुद्ध रूप प्रकट होता है। सर्वथा कर्म छूट जाने से आत्मा का भास्वर एवं शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है एवं राग-द्वेष जड़ से मुक्त हो जाता है। इस तरह चारित्र्य का कार्य वैषम्य के कारणों को दूर करना है जो 'संवर', 'निर्जरा' आदि है। आध्यात्मिक जीवन का विकास आन्तर चारित्र्य के विकास-क्रम पर निर्भर है। जैन परम्परा में चौदह गुणस्थान में 'बहिरात्मा', 'अन्तरात्मा' और 'परमात्मा' तीन भूमिकायें हैं। अन्तिम भूमिका में रागद्वेष का उच्छेद हो जाता है और अहिंसा तथा वीतरागत्व प्रकट होता है।

लोक-मीमांसा—जैन परम्परा में चेतन और अचेतन के परस्पर प्रभाव का ही यह संसार है। जैन परम्परा न्याय-वैशेषिक की तरह परमाणुवादी है, किन्तु इसका परमाणु न्याय-वैशेषिक की तरह कूटस्थ नहीं, बल्कि सांख्य की तरह परिणामी है। एक ही प्रकार के परमाणु से सब तरह की चीजें बनती हैं और वह इतना सूक्ष्म है कि सांख्य की प्रकृति की तरह अव्यक्त हो जाता है। जैन परम्परा का अनन्त परमाणुवाद प्राचीन सांख्य सम्मत पुरुषबहुत्व रूप प्रकृति-बहुत्ववाद से बहुत दूर नहीं है। जैन परम्परा सांख्य-योग-मीमांसा की तरह लोकप्रवाह को अनादि अनन्त मानती है। यानी कर्त्ता, संहर्त्ता रूप से ईश्वर जैसी सत्ता को नहीं माना गया है। प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टि का आप ही कर्त्ता और अपना ही मुक्तिदाता है। इस तरह तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वरभाव है।

विचार में साम्य : अनेकान्त—जैन परम्परा विचारों का सत्यलक्षी संग्रह होने के कारण किसी भी विचार सरणी की उपेक्षा नहीं करना चाहती है। यही

कारण है कि संग्रह-नय रूप से जहाँ सांख्य का सद्वैत लिया गया है वहीं ब्रह्माद्वैत के विचार विकास के लिए संग्रहनय रूप से ब्रह्माद्वैत विचार ने भी स्थान प्राप्त किया है। इसी तरह ऋजुसूत्र नय रूप से बौद्ध क्षणिकवाद तथा वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद—इन चारों प्रसिद्ध बौद्ध शाखाओं का संग्रह हुआ।

संक्षेप में अनेकान्त-दृष्टि इतनी सर्वसंग्राहक है कि इसमें समन्वय की अपूर्व क्षमता है। यही उसका हृदय है। जैन परम्परा में सत्य प्रकाशन की शैली का ही नाम अनेकान्त है। अनेकान्त के मूल में दो तत्त्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत होता है, वही सत्य कहलाता है। एक तो वस्तु-स्वरूप इतना संश्लिष्ट है कि उसका त्रिकालाबाधित ज्ञान सम्भव नहीं और यदि हो भी जाय तो उसका कथन करना कठिन है। हम अपनी दृष्टि से यथार्थ का वर्णन कर सकते हैं लेकिन वह अपूर्ण ही होगा। अतः सत्यदर्शियों में भी भेद तो होंगे ही क्योंकि वे सब अपूर्णदर्शी हैं। इसलिए राग-द्वेष से मुक्त होकर तेजस्वी मध्यस्थ भाव रखकर निरन्तर जिज्ञासा करते जाना एवं विरोधी पक्षों पर आदर पूर्वक विचार करना तथा अपने पक्ष की भी तीव्र समालोचक दृष्टि रखना और अन्त में अपनी प्रज्ञा से विरोधों का समन्वय करना एवं जहाँ अपनी भूल हो वहाँ मिथ्याभिमान परित्याग कर परिष्कार कर आगे बढ़ना चाहिए।

इसी अनेकान्त से दो सिद्धान्त फलित हुए—नयवाद और सप्तभंगी। विचार की विभिन्न पद्धतियों के समन्वय करने का काम नयवाद करता है और किसी वस्तु के विषय में प्रचलित विरोधी कथनों का समन्वय सप्तभंगी का काम है। लेकिन दुर्भाग्य है कि उदारता की पराकाष्ठा पर पहुँच कर सत्य को प्रकाशित करने वाले इस अनेकान्त दर्शन को भी जैनैतर विद्वानों ने साम्प्रदायिक स्वरूप में ग्रहण कर उसे खण्डन करने का प्रयास किया है। बादरायण ने तो 'नैकस्मिन् असम्भवात्' (६।२।३३) सूत्र की रचना कर डाली जिसपर शंकर, रामानुज से लेकर डॉ. राधाकृष्णन् एवं पं. बलदेव उपाध्याय तक वेदान्त के आचार्यों ने दिक्भ्रमित भाष्य कर डाले। फिर तो वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, अर्चट, शान्तिरक्षित आदि प्रभावशाली बौद्धों ने भी अनेकान्तवाद पर निर्मम प्रहार किया है। फिर तो जैन विचारकों को आत्मरक्षा के लिए उनका सामना करना ही था। इसी तरह एक प्रचण्ड विचार-संघर्ष का जन्म हुआ और अनेकान्त-दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ। लेकिन खण्डन-मण्डन के बावजूद अनेकान्त-दृष्टि का भारतीय संस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। जैन विरोधी प्रखर आचार्य रामानुज ने मायावाद के विरोध में भले ही उपनिषद् का

परिसंवाद-४

सहारा लिया लेकिन विशिष्टाद्वैत के निरूपण में अनेकान्त-दृष्टि का उपयोग किया। ब्रह्म चित् भी है, अचित् भी, ऐसा सोच वस्तुतः अनेकान्त-दृष्टि का ही परिचायक है। पुष्टिमार्ग के पुरस्कर्त्ता वल्लभ शुद्धाद्वैत में और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत में द्वैत और अद्वैत दोनों का समन्वय किया। यह भी समन्वयकारिणी अनेकान्त-दृष्टि ही है। यों तो वेद-उपनिषद् की भी विवेचना की जाय तो उनके वचनों को समझने के लिए अनेकान्त दृष्टि का ही संस्पर्श मिलेगा। नासदीयसूक्त में जगत् के कारण को 'न सत् न असत्' कहा गया है। शायद शब्द में इतनी शक्ति नहीं कि उस परमतत्त्व को प्रकाशित कर सके। कहीं पर असत् से सत् की सृष्टि बतायी गयी है—'असद्वा इदमग्र आसीत्'—तैत्तिरीय २।७, तो कहीं सत् से सृष्टि बनने की बात है—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'—छान्दोग्य ६।२, ईशावास्य में तो उस परमतत्त्व के वर्णन में 'तदैजति तन्नैजति, तदद्भरे तदन्तिके' आदि कहकर और भी स्पष्ट किया गया है। पिप्पलाद ऋषि के अनुसार प्रजापति से सृष्टि हुई (प्रश्नोपनिषद् १।३।१३), किसी के अनुसार जल, किसी के अनुसार वाक्, अग्नि, आकाश, प्राण को विश्व का मूल कारण माना गया है। (बृहदारण्यक ५।५।१, छान्दोग्य, ४।३, कठोप, २।५।९, छान्दोग्य १।९।१, १।११।५ आदि)। इन सूत्रों का अर्थ है कि विश्व के कारण की जिज्ञासा में अनेक मतवादों का प्रादुर्भाव हुआ जिसका स्पष्ट संकेत वेद-उपनिषद् में मिलता है। मतों के इस जंजाल में भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है। मानों जैसे सभी नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं—

'उद्धाविच सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः ।

न च तामु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तामु सरिस्त्ववोदधिः ॥

—सिद्धसेन द्वात्रिंशिका ४।१५

बुद्ध के विभज्यवाद और मध्यम प्रतिपदा के सिद्धान्त पर भी हम अनेकान्त-दृष्टि का संस्पर्श पाते हैं जब अंतों के मध्य में रहने का आदेश मिलता है। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद आदि द्वन्द्वों के बीच समन्वय किया गया है। भगवान् बुद्ध द्वारा लोक-संज्ञा, लोक-निश्चिन्ता, लोक-व्यवहार एवं लोक-प्रज्ञप्ति का आश्रय लेने का स्पष्ट संकेत है। बुद्ध ने कहा है—'हे माणवक ! मैं यहाँ विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं।' (मज्झिम निकाय—मुत्त ९९)। हाँ भगवान् बुद्ध का विभज्यवाद कुछ मर्यादित क्षेत्र में था, किन्तु महावीर का क्षेत्र व्यापक था। इसी कारण विभज्यवादी होते हुए भी बौद्ध दर्शन अनेकान्त की ओर काफी अग्रसर हुआ है। महावीर ने विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक बनाया है एवं विरोधी धर्मों के अनेक अन्तों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षा भेद से घटाया है। इसी कारण विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्त

परिसंवाद-४

वाद या स्याद्वाद हुआ। विरोधी धर्मों को स्वीकार करना विभज्यवाद का मूलधार है, जबकि तिर्यक् और उर्ध्वता दोनों प्रकार के सामान्यों के पर्यायों में विरोधी धर्मों का स्वीकार करना अनेकान्तवाद का मूलधार है। अतः इस दृष्टि से अनेकान्तवाद विभज्यवाद का ही विकसित रूप है। बुद्ध की समन्वय-भावना सिंह सेनापति के साथ संवाद से स्पष्ट होती है जब उन्होंने अपने को अक्रियावादी और क्रियावादी दोनों बताया। (विनयपिटक, महावग्ग—६।३१)

व्यवहार में अनेकान्त का उपयोग नहीं होने का परिणाम है, हिंसा का विस्तार। अनेकान्त और उसकी आधारभूत अहिंसा का ही परिणाम है कि जैन धर्म अन्य कई धर्मों की तरह कभी भी विस्तारवादी नहीं बना। ज्ञान, विचार, आचरण और वाणी के किसी भी एक विषय को केवल संकीर्ण दृष्टि की अपेक्षा अनेक दृष्टियों से और अधिक से अधिक मार्मिक रीति से विचारने और आचरण करने का जैन-संस्कृति ने आग्रह रखा है। वस्तुतः अनेकान्त जैन-संस्कृति की जीवन-पद्धति है जो सभी दिशाओं से खुला एक मानस-चक्षु है। उसके आगे-पीछे, भीतर-बाहर सर्वत्र ही सत्य का प्रवाह है। अतः यह कोई कल्पना नहीं, परन्तु सत्य सिद्ध तत्त्वज्ञान है। जीवित अनेकान्त पुस्तकों में नहीं जीवन में मिलेगा जब हम दूसरे विषयों को सब ओर से तटस्थ रूप से देखने, विचारने और अपना देने के लिए प्रेरित होंगे। विचारों की जितनी तटस्थता, स्पष्टता, निस्पृहता अधिक होगी, अनेकान्त का बल उतना ही अधिक होगा। हमें यह सोचना चाहिए कि समन्वय जीवन की एक अनिवार्य विवशता है। लेकिन बिना समझे-बूझे या दूसरों की देखा देखी से लाया जाने वाला अनेकान्त न तो तेजस्वी होगा, न उसमें प्राण ही होगा। अतः हमें मानस-अहिंसा के रूप में अनेकान्त को स्वीकार कर समन्वय की साधना को तेजस्वी बनाना चाहिए।

विश्व का विचार करने वाली दो परस्पर भिन्न दृष्टियाँ हैं—एक है सामान्य-गामिनी दृष्टि, दूसरी है विशेषगामिनी दृष्टि। सामान्यगामिनी दृष्टि शुरू में तो सारे विश्व में समानता देखती है और धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते-झुकते एकता की भूमिका पर आती है। जबकि विशेषगामिनी दृष्टि केवल विभेद ही विभेद देखती है। भेदवाद-अभेदवाद, सद्वाद-असद्वाद, निर्वचनीय-अनिर्वचनीयवाद, हेतुवाद-अहेतुवाद आदि का समन्वय अनेकान्त-दृष्टि से सम्भव है। प्रत्येक युक्तिवाद अमुक-अमुक दृष्टि से अमुक-अमुक सीमा तक अपने को सत्य मानता है। इस प्रकार से सभी युक्तिवाद वास्तविक हैं, हाँ अपनी-अपनी अपेक्षा से। यद्यपि वैदिक दर्शन के न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त और बौद्ध-दर्शन में किसी एक वस्तु के विविध दृष्टियों से निरूपण

की पद्धति तथा अनेक पक्षों के समन्वय की दृष्टि है, किन्तु उसके प्रत्येक पहलू पर सम्भावित समग्र दृष्टि बिन्दुओं से एकमात्र समन्वय में ही विचार की परिपूर्णता मानने का दृढ़ आग्रह जैन-परम्परा की अपनी विशेषता है। इसलिए स्याद्वाद को विश्व विजेता निष्कण्टक राजा कहा गया है—'एवं विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वाद-महानरेन्द्र।' यों ऋग्वेद का वचन 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' (१।१६।४६) वस्तुतः समन्वयकारी अनेकान्त का बीज-वाक्य है। जो भी हो, हमें मानना होगा कि जैन-दर्शन ने प्रमेय का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यानी त्रिलक्षण परिणामवाद को मानकर तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में एक विशिष्ट समन्वयवाद उपस्थित किया है। यही नहीं आचार प्रधान जैन धर्म ने तत्त्वज्ञान का उपयोग भी आचार-शुद्धि के लिए ही किया है। इसीलिए तर्क जैसे शुष्क शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यों ने समन्वय के लिए किया है। दार्शनिक-संघर्ष एवं वाद-विवाद के युग में भी समता, उदारता और समन्वय-दृष्टि की जैन तार्किक परम्परा में अद्भुत अभिव्यक्ति मिलती है। हेमचन्द्र ने कहा है—

भवबोजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागताः यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

हरिभद्र तो और भी अधिक प्रगल्भ दीखते हैं—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

असत् में जब वस्तुस्थिति की अनन्तधर्मात्मकता मानवीय ज्ञान की दुःखद सीमायें, शब्द का अत्यल्प सामर्थ्य, तथा अभिप्राय की विविधता का जब विचार करते हैं तो उसका निरूपण करना कोई सामान्य कार्य नहीं। इसीलिए जेनों ने आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद तथा समाज में अपरिग्रह, ये चार स्तम्भ माने जिन पर उनका सर्वोदयी भव्य प्रासाद खड़ा है। जैन दर्शन की भारतीय दर्शन को यही देन है कि इसने वस्तु के विराट् स्वरूप को सापेक्ष दृष्टिकोणों से देखना सिखाया, सावधानी पूर्वक सापेक्ष भाव से बोलना सिखाया और हर जीव को जीने का समान अधिकार मान सब के साथ अहिंसा का व्यवहार करना सिखाया तथा समाज में समता के लिए अपरिग्रह बताया।

दर्शन विभाग,

भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, (बिहार)

परिसंवाद-४